

Chapter ग्यारह

पूर्ण समाज: चातुर्वर्ण

इस अध्याय में उन सामान्य सिद्धान्तों का वर्णन है जिनका पालन करने पर मनुष्य, विशेष रूप से वह जो आध्यात्मिक जीवन में प्रगति करने का इच्छुक है, पूर्ण बन सकता है।

महाराज युधिष्ठिर प्रह्लाद महाराज के गुणों को सुनकर अत्यन्त प्रसन्न हुए। अब उन्होंने नारद मुनि से मनुष्य के वास्तविक धर्म तथा उस *वर्णाश्रम धर्म* के विशेष लक्षणों के विषय में जिज्ञासा प्रकट की जो मानवीय सभ्यता के उच्चतम पद को बताने वाला है। जब उन्होंने नारद मुनि से इन विषयों के सम्बन्ध में प्रश्न किया तो नारद मुनि ने अपनी बातें छोड़कर भगवान् नारायण के कथन उद्धृत किये, क्योंकि धार्मिक सिद्धान्त प्रदान करने के लिए वे परम अधिकारी हैं (*धर्म तु साक्षाद् भगवत् प्रणीतम्*)। प्रत्येक व्यक्ति को तीस गुण अर्जित करने होते हैं—यथा सत्य, दया तथा तपस्या। धर्म के सिद्धान्तों के पालन की विधि *सनातन धर्म* कहलाती है।

वर्णाश्रम धर्म ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य तथा शूद्र वर्णों को बताने वाला है। यह संस्कार विधि को भी प्रस्तुत करता है। द्विजों को गर्भाधान संस्कार अर्थात् सन्तान उत्पन्न करने का अनुष्ठान सम्पन्न करना होता है। जो इस संस्कार को संपन्न करता है वह वास्तव में द्विज है, किन्तु जो लोग इसे नहीं सम्पन्न करते और वर्णाश्रम धर्म के नियमों से विपथ हो जाते हैं, वे द्विजबन्धु कहलाते हैं। ब्राह्मण की प्रमुख वृत्तियाँ हैं—अर्चाविग्रह का पूजन, अर्चाविग्रह पूजन की विधि की अन्यो को शिक्षा देना, वेदाध्ययन करना, वेदों का अध्यापन, अन्यो से दान लेना तथा अन्यो को दान देना। ब्राह्मण को इन छः वृत्तिपरक कार्यों से अपना जीवन-निर्वाह करना चाहिए। क्षत्रिय का कर्तव्य है कि वह नागरिकों को सुरक्षा प्रदान करे तथा उन पर कर लगाए, किन्तु ब्राह्मण से कर लेना वर्जित है। अतएव कृष्णभावनामृत आन्दोलन के सदस्यों को सरकारी कर से मुक्त होना चाहिए। क्षत्रिय लोग ब्राह्मण के अतिरिक्त हर एक पर कर लगा सकते हैं। वैश्यों को भूमि जोतनी चाहिए, अन्न उत्पन्न करना चाहिए तथा गायों की रक्षा करनी चाहिए जबकि शूद्रों को, जो कभी भी गुण के दृष्टिकोण से ब्राह्मण, क्षत्रिय या वैश्य नहीं बन सकते, तीनों उच्च जातियों की सेवा करनी चाहिए और इसीसे संतुष्ट रहना चाहिए। ब्राह्मणों के लिए जीविका कमाने के अन्य साधनों की भी संस्तुति की गई है—यथा शालीन, यायावर, शिल तथा उञ्चन। ये चारों वृत्तिपरक कार्य क्रमशः एक दुसरे से श्रेष्ठतर हैं।

जो व्यक्ति सामाजिक जीवन में निम्नवर्ण का है, वह तब तक उच्च-वर्ण का व्यवसाय स्वीकार नहीं कर सकता जब तक ऐसा करना सर्वथा आवश्यक न हो। आपात्काल में क्षत्रियों के अतिरिक्त सारे वर्ण अन्यो के वृत्तिपरक कार्यों को स्वीकार कर सकते हैं। क्षत्रियों के अतिरिक्त अन्य वर्ण ऋत (शिलोञ्चन), अमृत (अयाचित), मृत (याच्चा), प्रमृत (कर्षण) तथा सत्यानृत (वाणिज्य) कहलाने वाले जीविका के साधन ग्रहण कर सकते हैं। ब्राह्मणों या क्षत्रियों द्वारा वैश्यों या शूद्रों की सेवा करना कुत्तों का व्यापार माना जाता है।

नारद मुनि ने यह भी बतलाया कि ब्राह्मण का लक्षण इन्द्रिय-संयम है, क्षत्रिय के लक्षण शक्ति तथा यश हैं, वैश्य का लक्षण ब्राह्मणों तथा क्षत्रियों की सेवा करना है तथा शूद्र का लक्षण तीनों उच्च वर्णों की सेवा करना है। स्त्री का गुण श्रद्धावान तथा पतिव्रता होना है। इस प्रकार नारद मुनि ने उच्च तथा निम्न जातियों के गुणों का वर्णन किया और यह संस्तुति की कि मनुष्य को अपनी जाति या पूर्वजों के

व्यवसाय का पालन करना चाहिए। वह सहसा अपने अभ्यस्त व्यवसाय को नहीं त्याग सकता अतएव यह संस्तुति की जाती है कि मनुष्य धीरे-धीरे जाग्रत हो। ब्राह्मणों, क्षत्रियों, वैश्यों तथा शूद्रों के लक्षण अत्यन्त महत्त्वपूर्ण हैं, अतएव मनुष्य को केवल इन्हीं लक्षणों के आधार पर जानना चाहिए, जन्म से नहीं। जन्म के आधार पर उपाधि देना का विरोध नारद मुनि तथा समस्त महापुरुषों ने किया है।

श्रीशुक उवाच

श्रुत्वेहितं साधु सभासभाजितं

महत्तमाग्रण्य उरुक्रमात्मनः ।

युधिष्ठिरो दैत्यपतेर्मुदान्वितः

पप्रच्छ भूयस्तनयं स्वयम्भुवः ॥ १ ॥

शब्दार्थ

श्री-शुकः उवाच—श्री शुकदेव गोस्वामी ने कहा; श्रुत्वा—सुनकर; ईहितम्—कथा, वृत्तान्त; साधु सभा-सभाजितम्—जो ब्रह्मा तथा शिव जैसे भागवतों की सभा में चर्चित होता है; महत्-तम-अग्रण्यः—साधु पुरुषों में सर्वश्रेष्ठ (युधिष्ठिर); उरुक्रम-आत्मनः—भगवान् में सदैव अपना मन लगाये रखने वाले (प्रह्लाद महाराज) का जो सदैव असाधारण विधि से कार्य करता है; युधिष्ठिरः—राजा युधिष्ठिर ने; दैत्य-पतेः—असुरों के स्वामी का; मुदा-अन्वितः—प्रसन्न मुद्रा में; पप्रच्छ—पूछा; भूयः—पुनः; तनयम्—पुत्र से; स्वयम्भुवः—ब्रह्माजी के।

शुकदेव गोस्वामी ने आगे कहा : प्रह्लाद महाराज, जिनके कार्यकलाप तथा चरित्र की पूजा तथा चर्चा ब्रह्मा तथा शिव जी जैसे महापुरुष करते हैं, उनके विषय में सुनने के बाद महापुरुषों में सर्वाधिक आदरणीय राजा युधिष्ठिर महाराज ने नारद मुनि से अत्यन्त प्रसन्न मुद्रा में पुनः पूछा।

श्रीयुधिष्ठिर उवाच

भगवन्श्रोतुमिच्छामि नृणां धर्मं सनातनम् ।

वर्णाश्रमाचारयुतं यत्पुमान्विन्दते परम् ॥ २ ॥

शब्दार्थ

श्री-युधिष्ठिरः उवाच—महाराज युधिष्ठिर ने पूछा; भगवन्—हे प्रभु; श्रोतुम्—सुनने के लिए; इच्छामि—मेरी इच्छा है; नृणाम्—मानव समाज के; धर्मम्—वृत्तिपरक कार्यों को; सनातनम्—सामान्य तथा (प्रत्येक के लिए) नित्य; वर्ण-आश्रम-आचार-युतम्—समाज तथा आध्यात्मिक प्रगति के चार विभागों के सिद्धान्तों पर आधारित; यत्—जिससे; पुमान्—सामान्य लोग; विन्दते—शान्तिपूर्वक भोग कर सकते हैं; परम्—परम ज्ञान (जिससे भक्ति प्राप्त की जा सकती है)।

महाराज युधिष्ठिर ने कहा : हे प्रभु, मैं आपसे धर्म के उन सिद्धान्तों के विषय में सुनने का इच्छुक हूँ जिनसे मनुष्य जीवन के चरम लक्ष्य भक्ति को प्राप्त कर सकता है। मैं मानव समाज के सामान्य वृत्तिपरक कर्तव्यों तथा वर्णाश्रम धर्म के नाम से विख्यात सामाजिक तथा आध्यात्मिक उन्नति की प्रणाली के विषय में सुनना चाहता हूँ।

तात्पर्य : *सनातन धर्म* का अर्थ है भक्ति। *सनातन* शब्द का अर्थ है, जो नित्य है, जो कभी बदलता नहीं, अपितु सभी परिस्थितियों में अपरिवर्तित रहता है। हम अनेक बार विवेचना कर चुके हैं कि जीव का नित्य वृत्तिपरक कर्तव्य (सनातन धर्म) क्या है। इसकी व्याख्या श्री चैतन्य महाप्रभु द्वारा की गई है। *जीवेर 'स्वरूप' हय—कृष्णोर 'नित्य दास'*—जीव का असली वृत्तिपरक कर्तव्य भगवान् की सेवा करना है। यदि कोई इस सिद्धान्त से विपथ भी होना चाहे तो भी वह दास बना रहता है, क्योंकि यह उसकी नित्य स्थिति है, किन्तु मनुष्य माया या भौतिक शक्ति की सेवा करता है। अतएव कृष्णभावनामृत आन्दोलन का मुख्य प्रयास भौतिक जगत की व्यर्थ में सेवा न करके भगवान् की सेवा करने के लिए मानव समाज को मार्ग दिखलाने का प्रयास करना होता है। हमारा वास्तविक अनुभव है कि प्रत्येक व्यक्ति, पशु, पक्षी—यहाँ तक कि प्रत्येक जीव—सेवा करने में लगा है। भले ही मनुष्य का शरीर या उसका बाह्य धर्म बदल जाये, किन्तु प्रत्येक मनुष्य किसी न किसी की सेवा में लगा रहता है। अतएव सेवा करने की प्रवृत्ति नित्य वृत्तिपरक कर्तव्य (धर्म) कहलाती है। *वर्णाश्रम* संस्थान द्वारा यह नित्य वृत्तिपरक कर्तव्य व्यवस्थित किया जा सकता है क्योंकि इसमें चार *वर्ण* (ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य तथा शूद्र) एवं चार *आश्रम* (ब्रह्मचर्य, गृहस्थ, वानप्रस्थ तथा संन्यास) होते हैं। इस प्रकार युधिष्ठिर महाराज ने मानव समाज के लाभ के लिए नारद मुनि से *सनातन धर्म* के सिद्धान्तों के विषय में प्रश्न किये।

भवान्प्रजापतेः साक्षादात्मजः परमेष्ठिनः ।

सुतानां सम्मतो ब्रह्मांस्तपोयोगसमाधिभिः ॥ ३ ॥

शब्दार्थ

भवान्—आप; प्रजापतेः—प्रजापति (ब्रह्मा) के; साक्षात्—प्रत्यक्ष; आत्म-जः—पुत्र; परमेष्ठिनः—इस ब्रह्माण्ड के परम पुरुष (ब्रह्मा) को; सुतानाम्—सारे पुत्रों में से; सम्मतः—सर्वश्रेष्ठ माने हुए; ब्रह्मन्—हे ब्राह्मणश्रेष्ठ; तपः—तपस्या; योग—योगाभ्यास; समाधिभिः—तथा समाधि या चिन्तन द्वारा (सभी तरह से आप उत्तम हैं)।

हे ब्राह्मणश्रेष्ठ, आप प्रजापति (ब्रह्मा) के साक्षात् पुत्र हैं। आप अपनी तपस्या, योग तथा समाधि के कारण ब्रह्मा के समस्त पुत्रों में से सर्वश्रेष्ठ माने जाते हैं।

नारायणपरा विप्रा धर्म गुह्यं परं विदुः ।

करुणाः साधवः शान्तास्त्वद्विधा न तथापरे ॥ ४ ॥

शब्दार्थ

नारायण-परा:— भगवान् के प्रति सदैव आज्ञाकारी रहने वाले; विप्रा:— ब्राह्मणों में श्रेष्ठ; धर्मम्— धार्मिक सिद्धान्त; गुह्यम्— अत्यन्त गोपनीय; परम्— परम; विदुः— जानते हैं; करुणा:— ऐसे व्यक्ति अत्यन्त दयालु होते हैं (भक्त होने से); साधवः— जिनका आचरण अत्यन्त श्रेष्ठ है; शान्ता:— शान्त; त्वत्-विधा:— आपके ही समान; न— नहीं; तथा— इस तरह; अपरे— अन्य (भक्ति के अतिरिक्त अन्य विधियों के अनुयायी)।

शान्त जीवन तथा दया में आपसे श्रेष्ठ कोई नहीं है और आपसे बढ़कर कोई यह नहीं जानता कि भक्ति किस तरह की जाये या ब्राह्मणों में सर्वश्रेष्ठ किस प्रकार बना जाये। अतएव आप गुह्य धार्मिक जीवन के समस्त सिद्धान्तों के जानने वाले हैं और आपसे बढ़कर उन्हें अन्य कोई नहीं जानता।

तात्पर्य : महाराज युधिष्ठिर जानते थे कि नारद मुनि मानव समाज के परम गुरु हैं, जो आध्यात्मिक मुक्ति के मार्ग की शिक्षा दे सकते हैं जिससे भगवान् को समझा जा सकता है। वस्तुतः इसी प्रयोजन से नारद मुनि ने भक्तिसूत्र का संग्रह किया और नारद पञ्चरात्र में निर्देश दिये। धार्मिक नियमों तथा जीवन की सिद्धि के विषय में सीखने के लिए मनुष्य को नारद मुनि की शिष्य-परम्परा से उपदेश ग्रहण करने चाहिए। हमारा कृष्णभावनामृत आन्दोलन सीधे ब्रह्म-सम्प्रदाय की पंक्ति में है। नारद मुनि ने ब्रह्मा से जो उपदेश प्राप्त किया था उसे ही उन्होंने व्यासदेव को दिया। व्यासदेव ने अपने पुत्र शुकदेव गोस्वामी को उपदेश दिया जिन्होंने श्रीमद्भागवत का प्रवचन किया। कृष्णभावनामृत आन्दोलन श्रीमद्भागवत तथा भगवद्गीता पर आधारित है। चूँकि श्रीमद्भागवत शुकदेव गोस्वामी द्वारा कहा गया था तथा भगवद्गीता कृष्ण द्वारा कही गई थी, अतएव उनमें कोई अन्तर नहीं है। यदि हम शिष्य-परम्परा के सिद्धान्त का दृढ़ता से पालन करें तो निश्चय ही हम आध्यात्मिक मोक्ष या भक्ति में नित्य लगे रहने के सही मार्ग पर चल रहे होते हैं।

श्रीनारद उवाच

नत्वा भगवतेऽजाय लोकानां धर्मसेतवे ।

वक्ष्ये सनातनं धर्मं नारायणमुखाच्छ्रुतम् ॥ ५ ॥

शब्दार्थ

श्री-नारद: उवाच— श्री नारद मुनि ने कहा; नत्वा— नमस्कार करके; भगवते— भगवान् को; अजाय— अजन्मा, सदैव विद्यमान; लोकानाम्— सम्पूर्ण ब्रह्माण्ड भर के; धर्म-सेतवे— धार्मिक सिद्धान्तों का रक्षक; वक्ष्ये— मैं बतलाऊँगा; सनातनम्— नित्य; धर्मम्— वृत्तिपरक कर्तव्य (धर्म); नारायण-मुखात्— नारायण के मुँह से; श्रुतम्— जिसे मैंने सुन रखा है।

श्री नारद मुनि ने कहा : मैं सर्वप्रथम समस्त जीवों के धार्मिक सिद्धान्तों के रक्षक भगवान् कृष्ण को नमस्कार करके नित्य धार्मिक पद्धति (सनातन धर्म) के सिद्धान्तों को बताता हूँ जिन्हें मैंने नारायण के मुख से सुना है।

तात्पर्य : अज शब्द कृष्ण का सूचक है जिन्होंने भगवद्गीता (४.६) में बतलाया है—अजोऽपि सन्नव्ययात्मा—मैं सदैव विद्यमान रहता हूँ और इस प्रकार मैं कभी जन्म नहीं लेता। मेरे अस्तित्व में कोई परिवर्तन नहीं आता।

योऽवतीर्यात्मनोऽंशेन दाक्षायण्यां तु धर्मतः ।
लोकानां स्वस्तयेऽध्यास्ते तपो बदरिकाश्रमे ॥ ६ ॥

शब्दार्थ

यः—जो (नारायण) ; अवतीर्य—अवतार लेकर; आत्मनः—अपने; अंशेन—अंश (नर) के द्वारा; दाक्षायण्याम्—महाराज दक्ष की पुत्री दाक्षायणी के गर्भ में; तु—निस्सन्देह; धर्मतः—धर्म महाराज से; लोकानाम्—सारे लोगों के; स्वस्तये—लाभ हेतु; अध्यास्ते—सम्पन्न करता है; तपः—तपस्या; बदरिकाश्रमे—बद्रिकाश्रम नामक स्थान में।

भगवान् नारायण अपने अंश नर समेत इस संसार में दक्ष महाराज की मूर्ति नामक पुत्री से प्रकट हुए। धर्म महाराज द्वारा उनका जन्म समस्त जीवों के लाभ हेतु था। वे आज भी बदरिकाश्रम नामक स्थान के निकट महान् तपस्या करने में लगे हुए हैं।

धर्ममूलं हि भगवान्सर्ववेदमयो हरिः ।
स्मृतं च तद्विदां राजन्येन चात्मा प्रसीदति ॥ ७ ॥

शब्दार्थ

धर्म-मूलम्—धार्मिक सिद्धान्तों की जड़; हि—निस्सन्देह; भगवान्—भगवान्; सर्व-वेद-मयः—समस्त वैदिक ज्ञान का सार; हरिः—परम पुरुष; स्मृतम् च—तथा शास्त्र; तत्-विदाम्—परमेश्वर को जानने वाले का; राजन्—हे राजा; येन—जिससे; च—भी; आत्मा—आत्मा, मन, शरीर तथा हर वस्तु; प्रसीदति—पूर्णतया प्रसन्न हो जाती है।

परम पुरुष भगवान् समस्त वैदिक ज्ञान के सार, समस्त धर्मों के मूल तथा महापुरुषों की स्मृति हैं। हे राजा युधिष्ठिर, इस धर्म के सिद्धान्त को प्रमाणस्वरूप समझना चाहिए। इसी धार्मिक सिद्धान्त के आधार पर सबों की तुष्टि होती है, यहाँ तक कि मनुष्य के मन, आत्मा तथा शरीर की भी तुष्टि होती है।

तात्पर्य : जैसाकि यमराज ने कहा है—धर्मः तु साक्षाद् भगवत्प्रणीतम्। मृत्यु के बाद प्रत्येक जीव की रक्षा करने वाले भगवान् का प्रतिनिधि यमराज है, जो इसका निर्णय करता है कि जीव कब और

कैसे अपना शरीर बदलेगा। वह अधिकारी है और उसका कहना है कि धर्म तो ईश्वर द्वारा प्रदत्त नियमों तथा आचार संहिताओं से बना होता है। कोई धर्म का निर्माण नहीं कर सकता, अतएव वैदिक सिद्धान्तों के अनुयायी कृत्रिम धार्मिक पद्धतियों को अस्वीकार कर देते हैं। *भगवद्गीता* (१५.१५) में कहा गया है—*वेदैश्च सर्वैरहमेव वेद्यः*—वैदिक ज्ञान का अर्थ है भगवान् कृष्ण को समझना। अतएव हम चाहे वेदों की बात करें या शास्त्रों की, चाहे धर्म की बात करें या मनुष्य के वृत्तिपरक कर्तव्य के सिद्धान्तों की, इन सबका एकमात्र लक्ष्य भगवान् कृष्ण को समझना होना चाहिए। अतएव *श्रीमद्भागवत* (१.२.६) का यह निष्कर्ष है—

स वै पुंसां परो धर्मो यतो भक्तिरधोक्षजे ।

अहैतुक्यप्रतिहता ययात्मा सुप्रसीदति ॥

दूसरे शब्दों में, धार्मिक नियमों का लक्ष्य भगवान् की दिव्य प्रेमाभक्ति करना सीखना है। यह सेवा न तो किसी के उकसाने से होनी चाहिए, न भौतिक स्थितियों के रोके रुकनी चाहिए। तब मानव समाज सभी प्रकार से सुखी हो सकेगा।

स्मृतियाँ वैदिक ज्ञान के सिद्धान्तों का अनुगमन करने वाले शास्त्र हैं जिन्हें वैदिक सिद्धान्तों का प्रमाण माना जाता है। धर्म का पालन करने के लिए बीस प्रकार की भिन्न भिन्न *स्मृतियाँ* हैं जिनमें से मनु तथा याज्ञवल्क्य *स्मृतियाँ* सर्वव्यापक हैं। *याज्ञवल्क्य स्मृति* में कहा गया है—

श्रुतिस्मृतिसदाचारः स्वस्य च प्रियमात्मनः ।

सम्यक् सङ्कल्पजः कामो धर्ममूलमिदं स्मृतम् ॥

मनुष्य को चाहिए कि वह *श्रुतियों*, *वेदों* तथा *स्मृतियों* से मानवीय आचरण सीखे। श्रील रूप गोस्वामी ने *भक्तिरसामृत-सिन्धु* में कहा है—

श्रुतिस्मृतिपुराणादिपञ्चरात्रविधिं विना ।

ऐकान्तिकी हरेर्भक्तिरुत्पातायैव कल्पते ॥

आशय यह है कि भक्त बनने के लिए मनुष्य को *श्रुति* तथा *स्मृति* में दिये गये नियमों का पालन करना चाहिए। उसे *पुराणों* तथा *पाञ्चरात्रिकी-विधि* के नियमों को मानना चाहिए। *श्रुति* तथा *स्मृति* का

पालन किये बिना न तो कोई शुद्ध भक्त बन सकता है और न भक्ति से रहित श्रुति तथा स्मृति से कोई जीवन की सिद्धि प्राप्त कर सकता है।

अतएव सभी प्रमाणों से यह निष्कर्ष निकलता है कि भक्ति के बिना धार्मिक सिद्धान्तों का प्रश्न ही नहीं उठता। धार्मिक सिद्धान्तों को सम्पन्न करने में ईश्वर केन्द्रविन्दु रहता है। इस समय विश्व भर में धर्म के नाम पर जो कुछ भी हो रहा है, वह भक्तिभावना से लगभग रहित है, अतएव श्रीमद्भागवत के निर्णय के अनुसार वह निन्दनीय है। भक्ति के बिना तथाकथित धार्मिक सिद्धान्त मात्र प्रवञ्चना हैं।

सत्यं दया तपः शौचं तितिक्षेक्षा शमो दमः ।

अहिंसा ब्रह्मचर्यं च त्यागः स्वाध्याय आर्जवम् ॥ ८ ॥

सन्तोषः समदृक्सेवा ग्राम्येहोपरमः शनैः ।

नृणां विपर्ययेहेक्षा मौनमात्मविमर्शनम् ॥ ९ ॥

अन्नाद्यादेः संविभागो भूतेभ्यश्च यथार्हतः ।

तेष्वात्मदेवताबुद्धिः सुतरां नृषु पाण्डव ॥ १० ॥

श्रवणं कीर्तनं चास्य स्मरणं महतां गतेः ।

सेवेज्यावनतिर्दास्यं सख्यमात्मसमर्पणम् ॥ ११ ॥

नृणामयं परो धर्मः सर्वेषां समुदाहृतः ।

त्रिंशल्लक्षणवात्राजन्सर्वात्मा येन तुष्यति ॥ १२ ॥

शब्दार्थ

सत्यम्—बिना तोड़े-मरोड़े सत्य का भाषण; दया—प्रत्येक दुखी व्यक्ति पर सहानुभूति; तपः—तपस्या (यथा एकादशी के दिन मास में दो बार उपवास करना); शौचम्—स्वच्छता (दिन में दो बार, सुबह-शाम, नियमित रूप से स्नान करना तथा भगवान् के नाम का जप करना याद रखना); तितिक्षा—सहनशक्ति (ऋतु परिवर्तनों या असुविधाजनक परिस्थितियों में भी अक्षुब्ध रहना); ईक्षा—सद्-असद् में अन्तर करना; शमः—मन का संयम (मन को मनमाना कार्य न करने देना); दमः—इन्द्रियों का संयम (इन्द्रियों को असंयमित न होने देना); अहिंसा—अहिंसा (किसी जीव को तीन प्रकार के तापों से पीड़ित न होने देना); ब्रह्मचर्यम्—अपने वीर्य का दुरुपयोग न होने देना (अपनी पत्नी के अतिरिक्त किसी अन्य स्त्री से संभोग न करना तथा वर्जित अवसरों पर यथा मासिक धर्म के अवसर पर पत्नी के साथ संभोग न करना); च—तथा; त्यागः—अपनी आय का कम से कम पचास प्रतिशत दान में देना; स्वाध्यायः—भगवद्गीता, श्रीमद्भागवत, रामायण, महाभारत जैसे दिव्य ग्रंथों का पठन (अथवा जो वैदिक संस्कृति के लोग नहीं हैं, उनके द्वारा बाइबिल या कुरान का पठन); आर्जवम्—सादगी(मानसिक दृढ़ता से मुक्ति); सन्तोषः—कठिन प्रयास के बिना जो भी उपलब्ध हो उसी में सन्तुष्ट रहना; समदृक्-सेवा—उन साधु पुरुषों की सेवा करना जो एक जीव तथा दूसरे जीव में अन्तर नहीं करते तथा जो प्रत्येक जीव को आत्मा के रूप में देखते हैं (पण्डिताः समदर्शिनः); ग्राम्य-ईह-उपरमः—तथाकथित परोपकारी कार्यों में भाग न लेते हुए; शनैः—धीरे-धीरे; नृणाम्—मानव समाज में; विपर्यय-ईहा—अनावश्यक कार्य; ईक्षा—वाद-विवाद; मौनम्—गम्भीर तथा शान्त रहना; आत्म—अपने में; विमर्शनम्—शोध (यह कि मनुष्य शरीर है या आत्मा); अन्न-आद्य-आदेः—अन्न, पेय आदि का; संविभागः—समान वितरण; भूतेभ्यः—विभिन्न जीवों के लिए; च—भी; यथा-अर्हतः—अनुकूल; तेषु—सारे जीवों में; आत्म-देवता-बुद्धिः—आत्मा या देवताओं के रूप में स्वीकार करना; सुतराम्—प्रारम्भिक रूप से; नृषु—सारे मनुष्यों में; पाण्डव—हे महाराज युधिष्ठिर; श्रवणम्—सुनना; कीर्तनम्—कीर्तन करना; च—भी; अस्य—उस (भगवान्) का; स्मरणम्—स्मरण करना (भगवान् के शब्दों तथा कार्यों का); महताम्—महापुरुषों का; गतेः—आश्रय स्वरूप; सेवा—सेवा; इज्या—पूजा; अवनतिः—नमस्कार करना; दास्यम्—सेवा करना; सख्यम्—मित्र मानना; आत्म-समर्पणम्—अपना सब कुछ अर्पित कर देना; नृणाम्—सारे मनुष्यों का; अयम्—यह; परः—

सर्वश्रेष्ठ; धर्मः— धार्मिक सिद्धान्त; सर्वेषाम्—सबों में; समुदाहतः—पूर्णतया वर्णित; त्रिंशत्-लक्षण-वान्—तीस लक्षणों से युक्त; राजन्—हे राजा; सर्व-आत्मा—सबों का परमात्मा; येन—जिससे; तुष्यति—तुष्ट होता है।

सभी मनुष्यों को जिन सामान्य नियम का पालन करना होता है, ये हैं—सत्य, दया, तपस्या, (महीने में कुछ दिन उपवास करना), दिन में दो बार स्नान, सहनशीलता, अच्छे बुरे का विवेक, मन का संयम, इन्द्रिय संयम, अहिंसा, ब्रह्मचर्य, दान, शास्त्रों का अध्ययन, सादगी, सन्तोष, साधु पुरुषों की सेवा, अनावश्यक कार्यों से क्रमशः अवकाश लेना, मानव समाज के अनावश्यक कार्यों की व्यर्थता समझना, गम्भीर तथा शान्त बने रहना एवं व्यर्थ की बातें करने से बचना, मनुष्य शरीर या इस आत्मा के विषय में विचार करना, सभी जीवों (पशुओं तथा मनुष्यों) में अन्न का समान वितरण करना, प्रत्येक आत्मा को (विशेषतया मनुष्य को) परमेश्वर का अंश मानना, भगवान् के कार्यकलापों तथा उनके उपदेशों को सुनना (भगवान् साधु पुरुषों के आश्रय हैं), इन कार्यों तथा उपदेशों का कीर्तन करना, इनका नित्य स्मरण करना, सेवा करने का प्रयास, पूजा करना, नमस्कार करना, दास बनना, मित्र बनना और आत्म-समर्पण करना। हे राजा युधिष्ठिर, मनुष्य जीवन में इन तीस गुणों को अर्जित करना चाहिए। मनुष्य इन गुणों को अर्जित करने मात्र से भगवान् को प्रसन्न कर सकता है।

तात्पर्य : मनुष्यों को पशुओं से अलग समझने के लिए नारद मुनि ने संस्तुति की है कि प्रत्येक मनुष्य उपर्युक्त तीस गुणों की शिक्षा प्राप्त करे। आज-कल पूरे विश्व में सर्वत्र ही धर्मनिरपेक्ष राज्य का विज्ञापन किया जा रहा है, जो ऐसा राज्य है, जिसकी रुचि केवल सांसारिक कार्यों में होगी। किन्तु यदि राज्य के नागरिकों को उपर्युक्त सद्गुणों की शिक्षा नहीं दी जाती तो फिर सुख कैसे प्राप्त होगा? उदाहरणार्थ, यदि सारे लोग असत्यवादी हो जाँय तो राज्य कैसे सुखी रह सकेगा? अतएव चाहे कोई हिन्दू हो या मुसलमान, ईसाई हो या बौद्ध अथवा अन्य किसी सम्प्रदाय का हो, हर एक को सत्यवादी बनने की शिक्षा दी जानी चाहिए। इसी प्रकार हर एक को दयालु बनने तथा महीने में कुछ दिन उपवास करने की शिक्षा दी जानी चाहिए। प्रत्येक व्यक्ति को दिन में दो बार नहाना चाहिए, अपने दाँतों को तथा शरीर को स्वच्छ रखना चाहिए और भगवान् के पवित्र नाम का स्मरण करके मन को आन्तरिक रूप से विमल बनाना चाहिए। ईश्वर एक है, चाहे कोई हिन्दू हो, मुसलमान हो या ईसाई। अतएव मनुष्य को चाहिए कि वह भाषा सम्बन्धी उच्चारण की भिन्नता की परवाह न करके भगवान् के पवित्र

नाम का कीर्तन करे। साथ ही मनुष्य को व्यर्थ ही वीर्य खलित न करने की शिक्षा दी जानी चाहिए। यह सभी मनुष्यों के लिए नितान्त आवश्यक है। व्यर्थ में वीर्य खलन न होने से मनुष्य की स्मृति, संकल्प, क्रियाशीलता तथा शारीरिक शक्ति अत्यन्त प्रबल बनती है। प्रत्येक व्यक्ति को विचार तथा अनुभूति में सरल रहने और शरीर तथा मन से संतुष्ट रहने की शिक्षा दी जानी चाहिए। ये मनुष्य के सामान्य गुण हैं। इसमें धर्मनिरपेक्ष या धार्मिक राज्य का प्रश्न ही नहीं उठता। जब तक मनुष्य को इन तीस गुणों की शिक्षा नहीं दी जाती तब तक शान्ति नहीं हो सकती। अन्ततोगत्वा इस प्रकार संस्तुति की जाती है—

श्रवणं कीर्तनं चास्य स्मरणं महतां गतेः ।

सेवेज्यावनतिर्दास्यं सख्यं आत्मसमर्पणम् ॥

हर एक व्यक्ति को भगवान् का भक्त बन जाना चाहिए, क्योंकि भक्त बनने पर मनुष्य को अन्य सारे गुण स्वतः प्राप्त हो जाएँगे।

यस्यास्ति भक्तिर्भगवत्यकिञ्चना

सर्वैर्गुणैस्तत्र समासते सुराः ।

हरावभक्तस्य कुतो महद्गुणा

मनोरथेनासति धावतो बहिः ॥

“जिसमें कृष्ण की अविचल भक्ति है उसमें कृष्ण तथा देवताओं के सारे सद्गुण निरन्तर प्रकट होते रहते हैं। किन्तु जिसकी अनुरक्ति भगवान् में नहीं है उसमें सद्गुण नहीं होते, क्योंकि वह मनोरथ द्वारा भौतिक जगत में लगा रहता है, जो भगवान् का बाह्य रूप है।” (*भागवत* ५.१८.१२) अतएव हमारा कृष्णभावनामृत आन्दोलन सबों को गले लगाने वाला है। मानव सभ्यता को चाहिए कि इस पर गम्भीरतापूर्वक विचार करे और विश्व शान्ति के लिए इन नियमों का अभ्यास करे।

संस्कारा यत्राविच्छिन्नाः स द्विजोऽजो जगाद यम् ।

इज्याध्ययनदानानि विहितानि द्विजन्मनाम् ।

जन्मकर्मावदातानां क्रियाश्चाश्रमचोदिताः ॥ १३ ॥

शब्दार्थ

संस्काराः—संस्कार, शुद्धिकरण की विधियाँ; यत्र—जिसमें; अविच्छिन्नाः—बिना किसी क्रम भंग के; सः—ऐसा व्यक्ति; द्वि-जः—दो बार जन्मा; अजः—ब्रह्मा ने; जगाद—विधान किया; यम्—जो; इज्या—पूजा; अध्ययन—वेदाध्ययन; दानानि—तथा दान; विहितानि—बताये गये; द्वि-जन्मनाम्—द्विजों का; जन्म—जन्म से; कर्म—तथा कर्म से; अवदातानाम्—विमल, पवित्र; क्रियाः—कार्यकलाप; च—भी; आश्रम-चोदिताः—चारों आश्रमों के लिए संस्तुत।

जो लोग अविच्छिन्न रूप से वैदिक मंत्रों द्वारा सम्पन्न होने वाले गर्भाधान संस्कार तथा अन्य नियत विधियों द्वारा शुद्ध किये जा चुके हैं तथा जिनकी स्वीकृति ब्रह्मा द्वारा दी जा चुकी है, वे द्विज कहलाते हैं। ऐसे ब्राह्मण, क्षत्रिय तथा वैश्य जो अपनी पारिवारिक परम्परा तथा अपने आचरण द्वारा शुद्ध किये जा चुके हैं उन्हें चाहिए कि भगवान् की पूजा करें, वेदों का अध्ययन करें तथा दान दें। इस पद्धति में उन्हें आश्रमों (ब्रह्मचर्य, गृहस्थ, वानप्रस्थ तथा संन्यास) के नियमों का पालन करना चाहिए।

तात्पर्य : मनुष्य के आचरण सम्बन्धी तीस सामान्य गुणों की सूची प्रस्तुत करने के बाद अब नारद मुनि चार वर्णों तथा चार आश्रमों के नियमों का वर्णन कर रहे हैं। मनुष्य को उपर्युक्त तीस गुणों में प्रशिक्षण दिया जाना चाहिए, अन्यथा वह मनुष्य नहीं है। फिर ऐसे प्रशिक्षित व्यक्तियों में वर्णाश्रम पद्धति चालू करनी चाहिए। वर्णाश्रम पद्धति में पहला संस्कार गर्भाधान का है, जो मैथुन के समय अच्छी सन्तान उत्पन्न करने के लिए मंत्रों द्वारा सम्पन्न किया जाता है। जो व्यक्ति इन्द्रिय-सुख के लिए नहीं, अपितु संस्कार के अनुसार सन्तानोत्पत्ति के लिए संभोग करता है, वह भी ब्रह्मचारी माना जाता है। मनुष्य को वैदिक जीवन के सिद्धान्तों का अतिक्रमण करके इन्द्रिय-सुख के लिए ही वीर्य का विनाश नहीं करना चाहिए। पर सम्भोग में संयम तभी सम्भव है जब जनता को उपर्युक्त तीस गुणों में प्रशिक्षित किया जाये। अन्यथा यह सम्भव नहीं है। यदि कोई द्विज परिवार में जन्म भी ले, किन्तु यदि वह संस्कारों का पालन न करे तो वह द्विजबन्धु कहलाता है—अर्थात् वह द्विज नहीं अपितु द्विजों का मित्र है। इस पद्धति का अभिप्राय अच्छे नागरिक उत्पन्न करना है। जैसाकि भगवद्गीता में कहा गया है कि जब स्त्रियाँ दूषित हो जाती हैं, तो उनकी सन्तानें वर्णसंकर कहलाती हैं और जब वर्णसंकर सन्तानें बढ़ जाती हैं, तो सारे विश्व की स्थिति नारकीय बन जाती है। अतएव सारा वैदिक वाङ्मय वर्ण-संकर जनता उत्पन्न करने के विरुद्ध सावधान करता है। वर्णसंकर सन्तानें होने पर उनको शान्ति तथा सम्पन्नता के लिए ठीक से नियंत्रित नहीं किया जा सकता, चाहे कितनी ही बड़ी विधान सभाएँ, संसद या अन्य संस्थाएँ क्यों न हों।

विप्रस्याध्ययनादीनि षडन्यस्याप्रतिग्रहः ।

राज्ञो वृत्तिः प्रजागोप्तरविप्राद्वा करादिभिः ॥ १४ ॥

शब्दार्थ

विप्रस्य—ब्राह्मण का; अध्ययन-आदीनि—वेदाध्ययन इत्यादि; षट्—छः (वेदों का अध्ययन, वेदों का अध्यापन, दैव पूजा, अन्यो को पूजा-विधि बताना, दान ग्रहण करना तथा दान देना); अन्यस्य—ब्राह्मण के अलावा अन्य (क्षत्रियों) का; अप्रतिग्रहः—अन्यो से दान लिए बिना (क्षत्रिय ब्राह्मणों के लिए नियत अन्य पाँच कर्तव्य निभा सकता है); राज्ञः—क्षत्रिय की; वृत्तिः—जीविका का साधन; प्रजा-गोप्तुः—प्रजा के पालक; अविप्रात्—जो ब्राह्मण नहीं हैं उससे; वा—अथवा; कर-आदिभिः—कर, दण्ड हेतु, जुर्माना आदि वसूल करके।

ब्राह्मण के लिए छः वृत्तिपरक कर्तव्य हैं। क्षत्रिय के लिए दान लेना वर्जित है किन्तु वह इनमें से अन्य पाँच कर्तव्य कर सकता है। राजा या क्षत्रिय को ब्राह्मण से कर वसूलने की अनुमति नहीं है, किन्तु वह अपनी अन्य प्रजा पर न्यूनतम कर तथा दण्ड के लिए जुर्माना लगाकर अपनी जीविका चला सकता है।

तात्पर्य : विश्वनाथ चक्रवर्ती ठाकुर ने ब्राह्मणों तथा क्षत्रियों की स्थिति का वर्णन इस प्रकार किया है—ब्राह्मण के छः वृत्तिपरक कर्तव्य हैं जिनमें से तीन अनिवार्य हैं—यथा वेदाध्ययन अर्चा विग्रह पुजा और दान देना शिक्षा प्रदान करना, अन्यो को दैव पूजा के लिए प्रेरित करने तथा दान स्वीकार करने से ब्राह्मणों की जीवन सम्बन्धी आवश्यकताएँ पूरी होती हैं। इसकी पुष्टि मनु संहिता में भी हुई है—

षण्णां तु कर्मणाम् अस्य त्रीणि कर्माणि जीविका ।

यजनाध्यापने चैव विशुद्धाच्च प्रतिग्रहः ॥

ब्राह्मण के छः वृत्तिपरक कर्तव्यों में तीन अनिवार्य हैं। ये हैं—देवपूजन, वेदाध्ययन तथा दान देना। इसके बदले में ब्राह्मण को दान मिलना चाहिए जिससे उसकी जीविका चले। ब्राह्मण अपनी जीविका के लिए कोई वृत्तिपरक व्यवसाय नहीं कर सकता। शास्त्रों का विशेष बल इस पर है कि जो अपने को ब्राह्मण कहता है, वह अन्य किसी की सेवा में रत नहीं हो सकता; अन्यथा वह अपने पद से तुरन्त च्युत होकर शूद्र बन जाता है। श्रील रूप गोस्वामी तथा सनातन गोस्वामी अत्यन्त सम्मानित परिवार के थे, किन्तु चूँकि वे नवाब हुसैन शाह की छोटी-मोटी क्लर्की नहीं, अपितु मंत्री के रूप में सेवा करते थे, अतएव उन्हें ब्राह्मण समाज से निकाल दिया गया था। निस्सन्देह, वे मुसलमान बन गये और उन्होंने अपने नाम भी बदल दिये थे। जब तक ब्राह्मण शुद्ध न हो, वह अन्यो से दान नहीं ले सकता। दान केवल शुद्ध ब्राह्मणों को दिया जाना चाहिए। भले ही कोई ब्राह्मण-कुल में क्यों न उत्पन्न हो, किन्तु

यदि वह शूद्र का कर्म करता है, तो वह दान नहीं ले सकता, क्योंकि इसका घोर निषेध किया गया है। यद्यपि क्षत्रिय ब्राह्मणों के ही समान योग्य होते हैं, लेकिन वे भी दान नहीं ले सकते। इस श्लोक में अप्रतिग्रह शब्द द्वारा इसका जोरदार निषेध किया गया है। निम्न जातियों (वर्णों) के लिए तो कुछ कहा ही नहीं जा सकता, क्षत्रियों तक को भी दान नहीं लेना चाहिए। राजा या सरकार नागरिकों पर कई प्रकार से कर लगा सकती है—शुल्क, कर, जुर्माना आदि बशर्ते कि राजा अपनी प्रजा को जीवन तथा माल की सुरक्षा प्रदान करने में समर्थ हो। यदि वह सुरक्षा प्रदान करने में सक्षम नहीं है, तो वह कर नहीं लगा सकता। फिर भी राजा को ब्राह्मणों पर तथा कृष्णभावनामृत में पूर्णतया लगे वैष्णवों पर कर नहीं लगाना चाहिए।

वैश्यस्तु वार्तावृत्तिः स्यान्नित्यं ब्रह्मकुलानुगः ।

शूद्रस्य द्विजशुश्रूषा वृत्तिश्च स्वामिनो भवेत् ॥ १५ ॥

शब्दार्थ

वैश्यः—व्यवसायी वर्ग; तु—निस्सन्देह; वार्ता-वृत्तिः—कृषि, गोरक्षा तथा व्यापार में लगे; स्यात्—हो; नित्यम्—सदैव; ब्रह्म-कुल-अनुगः—ब्राह्मणों के निर्देशों का पालन करते हुए; शूद्रस्य—श्रमिकों का, चतुर्थ श्रेणी के लोग; द्विज-शुश्रूषा—तीन उच्च वर्गों (ब्राह्मण, क्षत्रिय तथा वैश्य) की सेवा; वृत्तिः—जीविका-साधन; च—तथा; स्वामिनः—स्वामी; भवेत्—उसे होना चाहिए।

व्यवसायी वर्ग को सदैव ब्राह्मणों के आदेशों का पालन करना चाहिए और कृषि, व्यापार तथा गोरक्षा जैसे वृत्तिपरक कर्तव्यों में लगे रहना चाहिए। शूद्र का एकमात्र कर्तव्य है उच्चवर्ण में से किसी को स्वामी बनना और उस की सेवा करना।

वार्ता विचित्रा शालीनयायावरशिलोञ्छनम् ।

विप्रवृत्तिश्चतुर्थेयं श्रेयसी चोत्तरोत्तरा ॥ १६ ॥

शब्दार्थ

वार्ता—वैश्य की जीविका का साधन (कृषि, गोरक्षा तथा व्यापार); विचित्रा—विभिन्न प्रकार; शालीन—बिना प्रयास के प्राप्त जीविका; यायावर—थोड़ा धान माँगने के लिए खेत में जाना; शिल—खेत में गिरे हुए अन्न को चुनना; उञ्छनम्—दूकानों में बोरों से गिरे हुए अन्न को चुनना; विप्र-वृत्तिः—ब्राह्मणों की जीविका; चतुर्था—चार प्रकार की; इयम्—यह; श्रेयसी—श्रेयस्कर, श्रेष्ठतर; च—भी; उत्तर-उत्तरा—उत्तरोत्तर।

विकल्प के रूप में ब्राह्मण वैश्य की कृषि, गोरक्षा या व्यापार की वृत्तियाँ ग्रहण कर सकता है। जो कुछ बिना माँगे मिल जाये वह उस पर आश्रित रह सकता है, वह प्रति दिन धान के खेत में जाकर भिक्षा माँग सकता है, वह स्वामी द्वारा खेत में थोड़ा अन्न इकट्ठा कर सकता है; या अन्न

के व्यापारियों की दूकान में पिछले गिरे हुए अन्न को एकत्र कर सकता है। जीविका के ये चार साधन हैं जिन्हें ब्राह्मण भी अपना सकते हैं। इन चारों में से प्रत्येक साधन अपने पिछले से (उत्तरोत्तर) श्रेष्ठ है।

तात्पर्य : कभी-कभी ब्राह्मण को दान में जमीन तथा गौवें मिल जाती हैं। इस तरह वह वैश्य की भाँति अपनी जीविका उपार्जित कर सकता है, जिसमें भूमि में खेती करना, गायों की रक्षा करना आवश्यकता से अधिक अपनी बची हुई वस्तुओं को बेचना सम्मिलित हैं, किन्तु श्रेष्ठतर विधि है खेत में गिरे अन्न को चुनना और बिना भिक्षा मांगे दूकानदार की दूकान से गिरे अन्न को बीनना।

जघन्यो नोत्तमां वृत्तिमनापदि भजेन्नरः ।

ऋते राजन्यमापत्सु सर्वेषामपि सर्वशः ॥ १७ ॥

शब्दार्थ

जघन्यः—निम्न (पुरुष) ; न—नहीं ; उत्तमाम्—उच्च ; वृत्तिम्—जीविका का साधन ; अनापदि—जहाँ सामाजिक उपद्रव नहीं होते ; भजेत्—स्वीकार करे ; नरः—मनुष्य ; ऋते—के अतिरिक्त ; राजन्यम्—क्षत्रिय का व्यवसाय ; आपत्सु—आपात्काल में ; सर्वेषाम्—जीवन के प्रत्येक स्तर के प्रत्येक व्यक्ति का ; अपि—निश्चय ही ; सर्वशः—सारे व्यवसाय या वृत्तिपरक कर्तव्य ।

आपात्काल के अतिरिक्त निम्न लोगों को उच्च वर्ग के वृत्तिपरक कार्य नहीं करने चाहिए। हाँ, यदि आपात्काल हो तो क्षत्रिय के अतिरिक्त अन्य सभी लोग अन्यों की जीविकाएँ स्वीकार कर सकते हैं।

तात्पर्य : निम्न जाति के लोगों को, विशेष रूप से वैश्यों तथा शूद्रों को, ब्राह्मण के वृत्तिपरक कर्तव्य स्वीकार नहीं करने चाहिए। उदाहरणार्थ, ब्राह्मण का वृत्तिपरक कर्तव्य वेदों का अध्यापन है, किन्तु जब तक आपात्काल न हो, क्षत्रियों, वैश्यों या शूद्रों को यह वृत्ति नहीं अपनानी चाहिए। यहाँ तक कि क्षत्रिय भी ब्राह्मण के कार्यों को तब तक स्वीकार नहीं कर सकता जब तक आपात्काल न हो। और यदि वह ऐसा करे तो उसे अन्य किसी से दान नहीं लेना चाहिए। कभी-कभी ब्राह्मण लोग हमारे कृष्णभावनामृत आन्दोलन का विरोध करते हैं कि हम यूरोपवासियों को अर्थात् मलेच्छों तथा यवनों को ब्राह्मण बना रहे हैं, लेकिन यहाँ पर श्रीमद्भागवत में इस आन्दोलन को समर्थन मिलता है। इस समय समाज में अव्यवस्था फैली हुई है और हर व्यक्ति ने उस आध्यात्मिक जीवन का अनुशीलन छोड़ दिया है, जो विशेषतः ब्राह्मणों के लिए है। चूँकि सारे विश्व में आध्यात्मिक संस्कृति बन्द कर दी गई है, अतएव इस समय आपात्काल है, अतः अब वह समय आ गया है कि जब नीच तथा अधम को

शिक्षित किया जाये जिससे वे ब्राह्मण बनकर आध्यात्मिक प्रगति का कार्य अपना सकें। मानव समाज की आध्यात्मिक प्रगति बन्द हो चुकी है और इसे आपात्काल समझना चाहिए। यहाँ पर कृष्णभावनामृत नामक आन्दोलन के लिए नारद मुनि का ठोस समर्थन प्राप्त होता है।

ऋतामृताभ्यां जीवेत मृतेन प्रमृतेन वा ।
 सत्यानृताभ्यामपि वा न श्रवृत्त्या कदाचन ।
 ऋतमुञ्छशिलं प्रोक्तममृतं यदयाचितम् ॥ १८ ॥
 मृतं तु नित्ययाच्ञा स्यात्प्रमृतं कर्षणं स्मृतम् ।
 सत्यानृतं च वाणिज्यं श्रवृत्तिर्नीचसेवनम् ॥ १९ ॥
 वर्जयेत्तां सदा विप्रो राजन्यश्च जुगुप्सिताम् ।
 सर्ववेदमयो विप्रः सर्वदेवमयो नृपः ॥ २० ॥

शब्दार्थ

ऋत-अमृताभ्याम्—ऋत तथा अमृत नामक वृत्तियों से; जीवेत—जीवित रहे; मृतेन—मृत वृत्ति द्वारा; प्रमृतेन वा—अथवा प्रमृत वृत्ति द्वारा; सत्यानृताभ्यामपि—सत्य अनृत वृत्ति के द्वारा भी; वा—अथवा; न—कभी नहीं; श्र-वृत्त्या—कूकर वृत्ति द्वारा; कदाचन—कभी भी; ऋतम्—ऋत; उञ्छशिलम्—खेत या बाजार से गिरे अन्न बीनने की वृत्ति; प्रोक्तम्—कहा गया; अमृतम्—अमृत वृत्ति; यत्—जो; अयाचितम्—किसी से माँगे बिना प्राप्त; मृतम्—मृत की वृत्ति; तु—लेकिन; नित्य-याच्ञा—प्रतिदिन किसानों से अन्न की भीख माँगना; स्यात्—हो; प्रमृतम्—प्रमृत वृत्ति; कर्षणम्—खेत जोतना; स्मृतम्—ऐसा स्मरण किया जाता है; सत्यानृतम्—सत्यानृत वृत्ति; च—तथा; वाणिज्यम्—व्यापार; श्र-वृत्तिः—कूकरों की वृत्ति; नीच-सेवनम्—नीचों (वैश्यों तथा शूद्रों) की सेवा; वर्जयेत्—छोड़ देनी चाहिए; ताम्—उसको (कूकर वृत्ति); सदा—सदैव; विप्रः—ब्राह्मण; राजन्यः च—तथा क्षत्रिय; जुगुप्सिताम्—अत्यन्त गर्हित; सर्व-वेद-मयः—सारे वैदिक ज्ञान में पटु; विप्रः—ब्राह्मण; सर्व-देव-मयः—साक्षात् समस्त देवता; नृपः—क्षत्रिय या राजा।

आपात्काल में मनुष्य ऋत, अमृत, मृत, प्रमृत तथा सत्यानृत नामक विभिन्न वृत्तियों में से किसी एक को स्वीकार कर सकता है। किन्तु कूकर वृत्ति से कभी नहीं अपनानी चाहिए। उञ्छशिल वृत्ति में अर्थात् खेती से अन्न एकत्र करने की वृत्ति को होता है। इसे ही ऋत कहते हैं। बिना भीख माँगे एकत्र करना अमृत कहलाता है, अन्न की भीख माँगना मृत है, जमीन को जोतना प्रमृत है और व्यापार करना सत्यानृत है। किन्तु निम्न पुरुषों की सेवा करना श्रवृत्ति या कूकर वृत्ति कहलाती है। विशेषतः ब्राह्मणों तथा क्षत्रियों को शूद्रों की निम्न तथा गर्हित सेवा में नही लगना चाहिए। ब्राह्मणों को समस्त वैदिक ज्ञान में पटु होना चाहिए और क्षत्रियों को देवताओं की पूजा से भली भान्ति परिचित होना चाहिए।

तात्पर्य : जैसाकि भगवद्गीता (४.१३) में कहा गया है—चातुर्वर्ण्यं मया सृष्टं गुणकर्मविभागशः—मानव समाज के चार विभाग प्रकृति के तीन गुणों एवं उनके नियत कर्मों के

अनुसार भगवान् द्वारा निर्मित हुए। पहले मानव समाज को चार विभागों—ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य तथा शूद्र—में बाँटने का सिद्धान्त कठोरता से पाला जाता था किन्तु वर्णाश्रम सिद्धान्त की क्रमिक उपेक्षा के कारण वर्णसंकर जनता का विकास हुआ और सारा वर्णाश्रम सिद्धान्त चौपट हो गया। इस कलियुग में लगभग हर व्यक्ति शूद्र है (कलौ शूद्रसम्भवाः) और ब्राह्मण, क्षत्रिय या वैश्य को ढूँढ़ पाना अत्यन्त कठिन है। यद्यपि कृष्णभावनामृत आन्दोलन ब्राह्मणों तथा वैष्णवों का आन्दोलन है, किन्तु इसके द्वारा दैवी वर्णाश्रम व्यवस्था की पुनर्स्थापना का प्रयास किया जा रहा है, क्योंकि समाज के इस विभाजन के बिना कहीं भी शान्ति एवं समृद्धि असम्भव है।

शमो दमस्तपः शौचं सन्तोषः क्षान्तिरार्जवम् ।

ज्ञानं दयाच्युतात्मत्वं सत्यं च ब्रह्मलक्षणम् ॥ २१ ॥

शब्दार्थ

शमः—मन का संयम; दमः—इन्द्रिय संयम; तपः—तपस्या; शौचम्—पवित्रता; सन्तोषः—तुष्टि; क्षान्तिः—क्षमाशीलता (क्रोध से विक्षुब्ध न होना); आर्जवम्—सरलता; ज्ञानम्—ज्ञान; दया—दया; अच्युत-आत्मत्वम्—अपने को ईश्वर का नित्य दास मानना; सत्यम्—सत्य; च—भी; ब्रह्म-लक्षणम्—ब्राह्मण के लक्षण।

ब्राह्मण के लक्षण इस प्रकार हैं—मन का संयम, इन्द्रिय संयम, तपस्या, पवित्रता, सन्तोष, क्षमाशीलता, सरलता, ज्ञान, दया, सत्य तथा भगवान् के प्रति पूर्ण आत्म-समर्पण।

तात्पर्य : वर्णाश्रम-धर्म व्यवस्था में ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य, शूद्र, ब्रह्मचारी, गृहस्थ, वानप्रस्थ तथा संन्यास के लक्षणों का वर्णन हुआ है। अन्तिम लक्ष्य तो अच्युतात्मत्वम्—सदैव भगवान् कृष्ण या विष्णु के विषय सोचना है। कृष्णभावनामृत में उन्नति करने के लिए मनुष्य को उपर्युक्त गुणों से युक्त ब्राह्मण बनना होता है।

शौर्यं वीर्यं धृतिस्तेजस्त्यागश्चात्मजयः क्षमा ।

ब्रह्मण्यता प्रसादश्च सत्यं च क्षत्रलक्षणम् ॥ २२ ॥

शब्दार्थ

शौर्यम्—युद्ध में पराक्रम; वीर्यम्—अजेय होना; धृतिः—धैर्य (यहाँ तक कि हारने पर भी क्षत्रिय गम्भीर रहता है); तेजः—अन्यों को पराजित करने की सामर्थ्य; त्यागः—दान देना; च—तथा; आत्म-जयः—शारीरिक आवश्यकताओं से अभिभूत न होना; क्षमा—क्षमाशीलता; ब्रह्मण्यता—ब्राह्मण नियमों के प्रति आज्ञाकारिता; प्रसादः—जीवन की किसी भी परिस्थिति में प्रसन्न रहना; च—तथा; सत्यम् च—तथा सत्य; क्षत्र-लक्षणम्—ये क्षत्रिय के लक्षण हैं।

युद्ध में प्रभावशाली, अजेय, धैर्यवान, तेजवान तथा दानवीर होना, शारीरिक आवश्यकताओं को वश में करना, क्षमाशील होना, ब्राह्मण नियमों का पालन करना तथा सदैव प्रसन्न रहना और सत्यनिष्ठ होना—ये क्षत्रिय के लक्षण हैं।

देवगुर्वच्युते भक्तिस्त्रिवर्गपरिपोषणम् ।

आस्तिक्यमुद्यमो नित्यं नैपुण्यं वैश्यलक्षणम् ॥ २३ ॥

शब्दार्थ

देव-गुरु-अच्युते—देवताओं, गुरु तथा भगवान् विष्णु में; भक्ति:—भक्तिभाव; त्रि-वर्ग—पवित्र जीवन के तीन सिद्धान्तों (धर्म, अर्थ तथा काम) का; परिपोषणम्—सम्पन्न होना; आस्तिक्यम्—शास्त्रों, गुरु तथा परमेश्वर में श्रद्धा; उद्यमः—सक्रिय; नित्यम्—निरन्तर, अनवरत; नैपुण्यम्—निपुणता; वैश्य-लक्षणम्—वैश्य के लक्षण।

देवता, गुरु तथा भगवान् विष्णु के प्रति सदैव अनुरक्ति, धर्म, अर्थ तथा काम में प्रयत्नशीलता; गुरु तथा शास्त्र के शब्द में विश्वास; तथा धनार्जन में निपुणता सहित प्रयत्नशील होना—ये वैश्य के लक्षण हैं।

शूद्रस्य सन्नतिः शौचं सेवा स्वामिन्यमायया ।

अमन्त्रयज्ञो ह्यस्तेयं सत्यं गोविप्ररक्षणम् ॥ २४ ॥

शब्दार्थ

शूद्रस्य—शूद्र (समाज के चतुर्थ वर्ण, श्रमिक) का; सन्नतिः—उच्च वर्णों (ब्राह्मण, क्षत्रिय तथा वैश्य) के प्रति आज्ञाकारिता; शौचम्—पवित्रता; सेवा—सेवाभाव; स्वामिनि—अपने पालने वाले स्वामी के प्रति; अमायया—द्विविधता के बिना; अमन्त्र-यज्ञः—बिना मंत्रों के यज्ञ करना; हि—ही; अस्तेयम्—चोरी न करने का अभ्यास; सत्यम्—सत्य; गो—गाय; विप्र—ब्राह्मण की; रक्षणम्—रक्षा।

समाज के उच्च वर्णों (ब्राह्मणों, क्षत्रिय तथा वैश्यों) को नमस्कार करना, सदैव स्वच्छ रहना, द्वैतभाव से मुक्त रहना, अपने स्वामी की सेवा करना, मंत्र पढ़े बिना यज्ञ करना, चोरी न करना, सदा सत्य बोलना तथा गायों एवं ब्राह्मणों को सदा संरक्षण प्रदान करना—ये शूद्र के लक्षण हैं।

तात्पर्य : यह आम अनुभव है कि श्रमिक या नौकर सामान्यतया चोरी करने के आदि होते हैं। किन्तु प्रथम श्रेणी का नौकर वह है, जो चोरी नहीं करता। यहाँ यह संस्तुति की गई है कि प्रथम श्रेणी के शूद्र को सदैव स्वच्छ रहना चाहिए, चोरी नहीं करनी चाहिए, झूठ नहीं बोलना चाहिए और सदैव अपने स्वामी की सेवा करनी चाहिए। शूद्र यज्ञों तथा वैदिक अनुष्ठानों में अपने स्वामी के साथ उपस्थित रह सकता है, लेकिन उसे मंत्रोच्चार नहीं करना चाहिए, क्योंकि यह केवल उच्चवर्ण वाले ही यह कर

सकते हैं। जब तक कोई पूर्णतः शुद्ध न हो तथा ब्राह्मण, क्षत्रिय एवं वैश्य के स्तर को प्राप्त न हो चुका हो—अर्थात् द्विज न हो—तब तक मंत्रोच्चार सफल नहीं होता।

स्त्रीणां च पतिदेवानां तच्छुश्रूषानुकूलता ।
तद्वन्धुष्वनुवृत्तिश्च नित्यं तद्व्रतधारणम् ॥ २५ ॥

शब्दार्थ

स्त्रीणाम्—स्त्रियों का; च—भी; पति-देवानाम्—जिन्होंने अपने पतियों को पूज्य मान रखा है; तत्-शुश्रूषा—अपने पति की सेवा करने में तत्परता; अनुकूलता—अपने पति के प्रति अनुकूल रहना; तत्-बन्धुषु—पति के मित्रों तथा सम्बन्धियों में; अनुवृत्तिः—उसी प्रकार अनुकूलता (पति के सन्तोष के लिए उनसे भी सद्व्यवहार करना); च—तथा; नित्यम्—नियमित रूप से; तत्-व्रत-धारणम्—पति के व्रतों को स्वीकार करते हुए अथवा पति के अनुसार कर्म करना।

पति की सेवा करना, अपने पति के अनुकूल रहना, पति के सम्बन्धियों तथा मित्रों के प्रति भी समान रूप से अनुकूल रहना तथा पति के व्रतों का पालन करना—ये चार नियम पतिव्रता स्त्री के लिए पालनीय हैं।

तात्पर्य : एक शान्त गृहस्थ जीवन के लिए यह अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है कि स्त्री अपने पति के व्रत का पालन करे। पति के व्रत से किसी प्रकार का असामंजस्य पारिवारिक जीवन का उच्छेद कर देगा। इस प्रसंग में चाणक्य पण्डित का उपदेश अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है—*दम्पतयोः कलहो नास्ति तत्र श्रीः स्वयमागताः*। जहां पति-पत्नी में झगड़ा नहीं होता वहां भाग्य की देवी (लक्ष्मी) स्वयं उस घर में आती हैं। स्त्री की शिक्षा इस श्लोक में दिए संकेतों के अनुसार होनी चाहिए। पतिव्रता स्त्री के लिए मूल सिद्धान्त यही है कि वह सदा पति के अनुकूल रहे। *भगवद्गीता* (१.४०) में कहा गया है—*स्त्रीषु दुष्टासु वाष्ण्ये जायते वर्णसंकरः*—यदि स्त्रियाँ दूषित हो जाती हैं, तो वर्णसंकर संतानें होती हैं। आधुनिक शब्दावली में वर्णसंकर तो हिप्पी हैं, जो विधि-विधानों को नहीं मानते। दूसरी व्याख्या यह है कि जब जनता वर्णसंकर होती है, तो कोई यह नहीं जान पाता कि कौन किस स्तर पर है। *वर्णाश्रम* प्रणाली समाज को वैज्ञानिक ढंग से चार वर्णों तथा चार आश्रमों में विभाजित करती है, किन्तु वर्णसंकर समाज में ऐसा विभेद नहीं दिखता और कोई यह नहीं जान सकता कि कौन क्या है। ऐसे समाज में ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य तथा शूद्र में अन्तर कर पाना कठिन होता है। शान्ति तथा प्रसन्नता के लिए वर्णाश्रम प्रणाली का आरम्भ भौतिक जगत में किया जाना चाहिए। जगत में मनुष्य के

कार्यकलापों के लक्षण सुस्पष्ट होने चाहिए और उसी के अनुसार उसको शिक्षा दी जानी चाहिए। तब आध्यात्मिक प्रगति स्वतः सम्भव हो जाएगी।

सम्मार्जनोपलेपाभ्यां गृहमण्डनवर्तनैः ।

स्वयं च मण्डिता नित्यं परिमृष्टपरिच्छदा ॥ २६ ॥

कामैरुच्चावचैः साध्वी प्रश्रयेण दमेन च ।

वाक्यैः सत्यैः प्रियैः प्रेम्णा काले काले भजेत्पतिम् ॥ २७ ॥

शब्दार्थ

सम्मार्जन—साफ करने; उपलेपाभ्याम्—जल या तरल पदार्थ से लीपने; गृह—घर; मण्डन—सजाने; वर्तनैः—घर में रहकर ऐसे कार्यों में व्यस्त रहने; स्वयम्—खुद; च—भी; मण्डिता—सुन्दर वस्त्रों से विभूषित; नित्यम्—सदैव; परिमृष्ट—स्वच्छ किया; परिच्छदा—वस्त्र तथा घरेलू बर्तन; कामैः—पति की इच्छानुसार; उच्च-अवचैः—बड़ा तथा छोटा दोनों; साध्वी—पतिव्रता स्त्री; प्रश्रयेण—विनयपूर्वक; दमेन—इन्द्रिय संयम से; च—भी; वाक्यैः—वाणी से; सत्यैः—सत्य से; प्रियैः—अत्यन्त सुहावने; प्रेम्णा—प्रेमपूर्वक; काले काले—अनुकूल समय पर; भजेत्—पूजा करे; पतिम्—पति की।

पतिव्रता (साध्वी) स्त्री को चाहिए कि अपने पति की प्रसन्नता के लिए स्वयं को अच्छे-अच्छे वस्त्रों से सजाये तथा स्वर्णाभूषणों से अलंकृत हो। सदैव स्वच्छ तथा आकर्षक वस्त्र पहने। अपना घर बुहारे तथा उसे पानी तरल पदार्थों से धोए जिससे सारा घर सदा शुद्ध तथा स्वच्छ रहे। उसे गृहस्थी की सामग्री एकत्र करनी चाहिए और घर को अगुरु तथा पुष्पों से सुगन्धित रखना चाहिए। उसे अपने पति की इच्छा पूरी करने के लिए तैयार रहना चाहिए। साध्वी स्त्री को विनीत तथा सत्यनिष्ठ रहकर, अपनी इन्द्रियों पर संयम रख कर तथा मधुर वचन बोलकर काल तथा परिस्थिति के अनुसार अपने पति की प्रेमपूर्ण सेवा में लगना चाहिए।

सन्तुष्टालोलुपा दक्षा धर्मज्ञा प्रियसत्यवाक् ।

अप्रमत्ता शुचिः स्निग्धा पतिं त्वपतितं भजेत् ॥ २८ ॥

शब्दार्थ

सन्तुष्टा—सदैव तुष्ट; अलोलुपा—लालची हुए बिना; दक्षा—सेवा करने में पटु; धर्म-ज्ञा—धार्मिक नियमों से पूर्णतया परिचित; प्रिय—सुहावना; सत्य—सत्यनिष्ठ; वाक्—बोलने में; अप्रमत्ता—अपने पति की सेवा में दत्तचित्त; शुचिः—सदैव स्वच्छ तथा शुद्ध; स्निग्धा—स्नेहिल; पतिम्—पति को; तु—लेकिन; अपतितम्—जो पतित नहीं है; भजेत्—पूजा करे।

साध्वी स्त्री को लालची नहीं होना चाहिए, अपितु उसे सभी परिस्थितियों में संतुष्ट रहना चाहिए। उसे गृहस्थी के काम-काज में अत्यन्त पटु होना चाहिए और धार्मिक नियमों से पूर्णतया अवगत होना चाहिए। उसे मधुर तथा सत्यभाषिणी होना चाहिए; उसे अत्यन्त सतर्क तथा सदैव

शुद्ध एवं पवित्र रहना चाहिए। इस प्रकार एक साध्वी स्त्री को उस पति की प्रेमपूर्वक सेवा करनी चाहिए जो पतित न हो।

तात्पर्य : धर्म के अधिकारी याज्ञवल्क्य के आदेशानुसार—*अशुद्धेः सम्प्रतिक्ष्यो हि महापातक-दूषितः।* जो दशविधा संस्कार के अनुसार शुद्ध नहीं किया गया होता उसे महान् पापकर्मों के फलों से दूषित माना जाता है। किन्तु *भगवद्गीता* में भगवान् कहते हैं—*न मां दुष्कृतिनो मूढाः प्रपद्यन्ते नराधमाः*—जो दुष्ट लोग मेरी शरण में नहीं आते वे अधम हैं। *नराधम* का अर्थ है “अभक्त”। श्री चैतन्य महाप्रभु ने भी कहा है—*येइ भजे सेइ बड़, अभक्त—हीन, छार।* जो भी भक्त होता है, वह पापरहित है। किन्तु जो भक्त नहीं है, वह अत्यन्त पतित तथा नीच है। अतएव यह संस्तुति की गई है कि पतिव्रता पत्नी पतित पति की संगति न करे। पतित पति वह है, जो चार प्रकार के पापकर्म करता है—यथा अवैध यौन, मांसाहार, द्यूत क्रीड़ा तथा मादक द्रव्य सेवन। विशेष रूप से जो व्यक्ति भगवान् का शरणागत नहीं होता वह कलुषित समझा जाता है। इस तरह साध्वी स्त्री को सलाह दी जाती है कि वह ऐसे पति की सेवा करने के लिए राजी न हो। ऐसा नहीं है कि यदि पति *नराधम* हो तो भी वह दासी की तरह सेवा करे। यद्यपि स्त्री के कर्तव्य पुरुष से भिन्न होते हैं, किन्तु साध्वी स्त्री पतित पति की सेवा करने के लिए नहीं बनाई गई। यदि उसका पति पतित हो तो संस्तुति की जाती है कि वह अपने पति की संगति त्याग दे। किन्तु पति की संगति त्यागने का अर्थ यह भी नहीं है कि वह फिर से विवाह कर ले और इस तरह वेश्यावृत्ति में प्रवृत्त हो जाए। यदि दुर्भाग्यवश कोई साध्वी स्त्री किसी पतित पति से ब्याही जाती है, तो उसे पति से विलग रहना चाहिए। इसी प्रकार पति भी अपनी पत्नी से विलग रह सकता है, यदि पत्नी शास्त्रों के वर्णन के अनुसार साध्वी न हो। निष्कर्ष यह निकलता है कि पति को शुद्ध वैष्णव होना चाहिए और पत्नी को यहाँ वर्णित समस्त लक्षणों से युक्त साध्वी होना चाहिए। तभी दोनों सुख से रहेंगे और कृष्णभावनामृत में आध्यात्मिक उन्नति करेंगे।

या पतिं हरिभावेन भजेत्श्रीरिव तत्परा ।

हर्यात्मना हरेर्लोके पत्या श्रीरिव मोदते ॥ २९ ॥

शब्दार्थ

या—जो स्त्री; पतिम्—अपने पति को; हरि-भावेन—मानसिक रूप से उसे हरि या भगवान् के समान मानकर; भजेत्—पूजा करती है या सेवा करती है; श्रीः इव—लक्ष्मी के समान; तत्-परा—अनुरक्त होकर; हरि-आत्मना—हरि के विचारों में लीन; हरेः

लोके—आध्यात्मिक जगत या वैकुण्ठलोक में; पत्या—अपने पति के साथ; श्री: इव—लक्ष्मी के सदृश; मोदते—आध्यात्मिक नित्य जीवन का भोग करती है।

जो स्त्री लक्ष्मी जी के पदचिन्हों पर पूरी तरह चलकर अपने पति की सेवा में लगी रहती है, वह निश्चित रूप से अपने भक्त पति के साथ भगवद्धाम वापस जाती है और वैकुण्ठलोक में अत्यन्त सुखपूर्वक रहती है।

तात्पर्य : साध्वी स्त्री के लिए लक्ष्मी जी जैसी आज्ञाकारिता आदर्श होती है। *ब्रह्म-संहिता* (५.२९) में कहा गया है—*लक्ष्मीसहस्रशतसम्भ्रमसेव्यमानम्*। विष्णु भगवान् वैकुण्ठलोक में हजारों लक्ष्मियों द्वारा पूजित होते हैं और गोलोक वृन्दावन में भगवान् कृष्ण हजारों गोपियों द्वारा पूजित होते हैं, जो सभी लक्ष्मी जी के ही समान हैं। स्त्री को लक्ष्मी जी के ही समान श्रद्धापूर्वक अपने पति की सेवा करनी चाहिए। मनुष्य को भगवान् का आदर्श दास होना चाहिए और स्त्री को लक्ष्मी के समान आदर्श पत्नी होना चाहिए। तब पति तथा पत्नी दोनों इतने श्रद्धायुक्त तथा प्रबल होंगे कि वे साथ-साथ कर्म करते हुए भगवद्धाम वापस जा सकेंगे। इस सम्बन्ध में श्रील मध्वाचार्य का मत है—

हरिरस्मिन् स्थित इति स्त्रीणां भर्तारि भावना ।

शिष्याणां च गुरौ नित्यं शूद्राणां ब्राह्मणादिषु ।

भृत्यानां स्वामिनि तथा हरिभाव उदीरितः ॥

स्त्री को चाहिए कि वह अपने पति को परमेश्वर माने। शिष्य को चाहिए कि अपने गुरु को भगवान् माने; शूद्र को चाहिए कि ब्राह्मण को भगवान् माने तथा सेवक को चाहिए कि अपने स्वामी को भगवान् माने। इस प्रकार सभी स्वतः भगवद्धक्त हो जाएँगे। दूसरे शब्दों में, इस प्रकार सोचने से वे सभी कृष्णभावनाभावित हो जाएँगे।

वृत्तिः सङ्करजातीनां तत्तत्कुलकृता भवेत् ।

अचौराणामपापानामन्त्यजान्तेवसायिनाम् ॥ ३० ॥

शब्दार्थ

वृत्तिः—वृत्तिपरक कर्तव्य; सङ्कर-जातीनाम्—मिश्रित वर्णों के लोगों का (चारों वर्णों के अतिरिक्त); तत्-तत्—वे-वे; कुल-कृता—पारिवारिक परम्परा; भवेत्—हो; अचौराणाम्—जो वृत्ति से चोर नहीं हैं; अपापानाम्—जो पापी नहीं हैं; अन्त्यज—निम्न वर्ग के; अन्तेवसायिनाम्—अन्तेवसायी या चाण्डाल नाम से ज्ञात।

संकर जातियों में से जो चोर नहीं होते वे अन्तेवसायी या चण्डाल (कुत्ता खाने वाले) कहलाते हैं और उनके कुल में चले आने वाले रीति-रिवाजों को होते हैं।

तात्पर्य : समाज के चार प्रधान वर्णों—ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य तथा शूद्र—की परिभाषा दी जा चुकी है और अब मिश्रित वर्ण *अन्त्यज* का विवरण दिया जा रहा है। मिश्रित वर्णों में दो विभाग हैं—*प्रतिलोमज* तथा *अनुलोमज*। यदि उच्च जाति की स्त्री निम्न जाति के पुरुष से विवाह करती है, तो उनका यह संयोग *प्रतिलोम* कहलाता है। किन्तु यदि निम्न जाति की स्त्री उच्च जाति के पुरुष से विवाह करती है, तो यह संयोग *अनुलोम* कहलाता है। ऐसे वंशों के सदस्य ताई, धोबी जैसे परम्परागत कर्म करते हैं। *अन्त्यजों* में जो कुछ-कुछ शुद्ध होते हैं—न चोरी करते हैं और न मांसाहार तथा मद्यपान करते हैं, न अवैध मैथुन करते हैं, न जुआ खेलते हैं—वे *अन्तेवसायी* कहलाते हैं। निम्न जातियों में अन्तर्जातीय विवाह तथा मद्यपान की छूट रहती है, क्योंकि ये लोग ऐसे आचरण को पापपूर्ण नहीं मानते।

प्रायः स्वभावविहितो नृणां धर्मो युगे युगे ।

वेददृग्भिः स्मृतो राजन्प्रेत्य चेह च शर्मकृत् ॥ ३१ ॥

शब्दार्थ

प्रायः— सामान्यतया; **स्व-भाव-विहितः—** नियत, अपने गुण के अनुसार; **नृणाम्—** मानव समाज का; **धर्मः—** वृत्तिपरक कर्तव्य; **युगे युगे—** प्रत्येक युग में; **वेद-दृग्भिः—** वैदिक ज्ञान में पारंगत ब्राह्मण के द्वारा; **स्मृतः—** मान्य; **राजन्—** हे राजा; **प्रेत्य—** मृत्यु के बाद; **च—** तथा; **इह—** यहाँ (इस शरीर में); **च—** भी; **शर्म-कृत्—** शुभ, कल्याणकारी।

हे राजन्, वैदिक ज्ञान में पारंगत ब्राह्मणों का निर्णय है कि प्रत्येक युग में अपने-अपने भौतिक गुणों के अनुसार विभिन्न वर्णों के लोगों का आचरण इस जीवन में तथा अगले जीवन में कल्याणकारी होता है।

तात्पर्य : *भगवद्गीता* (३.३५) में कहा गया है— *श्रेयान् स्वधर्मो विगुणः परधर्मात् स्वनुष्ठितात्—* अपने-अपने नियत कर्मों को करना अन्यो के कर्म करने से कहीं अधिक अच्छा है, चाहे वे दोषपूर्ण ही क्यों न हों। *अन्त्यज* अर्थात् निम्नश्रेणी के लोग चोरी करने, मद्यपान करने तथा अवैध मैथुन करने के अभ्यस्त होते हैं, किन्तु इन्हें पापपूर्ण नहीं माना जाता। उदाहरणार्थ, यदि शेर किसी आदमी को मार डालता है, तो वह पापपूर्ण नहीं है, किन्तु यदि कोई मनुष्य दूसरे व्यक्ति को मारता है, तो वह पापपूर्ण माना जाता है और मारने वाले को फाँसी दी जाती है। जो कृत्य पशु जगत में दैनिक काम है, वही मानव समाज में पापपूर्ण कृत्य है। इस प्रकार समाज में उच्च तथा निम्न वर्णों के लक्षणों के अनुसार

विभिन्न प्रकार के वृत्तिपरक कर्तव्य होते हैं। वैदिक ज्ञान के विशेषज्ञों के अनुसार ये कर्तव्य युग के अनुसार नियत किये जाते हैं।

वृत्त्या स्वभावकृतया वर्तमानः स्वकर्मकृत् ।

हित्वा स्वभावजं कर्म शनैर्निर्गुणतामियात् ॥ ३२ ॥

शब्दार्थ

वृत्त्या—वृत्ति से; स्व-भाव-कृतया—अपने भौतिक गुणों के अनुसार किया गया; वर्तमानः—विद्यमान; स्व-कर्म-कृत्—अपना-अपना कार्य करते हुए; हित्वा—त्याग कर; स्व-भाव-जम्—अपने ही गुणों से उत्पन्न; कर्म—कार्य; शनैः—धीरे-धीरे; निर्गुणताम्—दिव्य स्थिति; इयात्—प्राप्त कर सकता है।

यदि कोई अपनी प्रकृति जन्य भौतिक स्थिति के अनुसार अपना वृत्तिपरक कार्य करता है तथा धीरे-धीरे इन कार्यों को छोड़ देता है, तो उसे निष्काम अवस्था प्राप्त हो जाती है।

तात्पर्य : यदि कोई अपने कुल के रिवाजों तथा कर्तव्यों को धीरे-धीरे छोड़कर अपनी स्वाभाविक स्थिति में भगवान् की सेवा करने का प्रयास करता है, तो वह अपने कर्मों से क्रमशः मुक्त हो जाता है और निष्काम अवस्था अर्थात् भौतिक इच्छाओं से मुक्ति प्राप्त कर लेता है।

उद्यमानं मुहुः क्षेत्रं स्वयं निर्वीर्यतामियात् ।

न कल्पते पुनः सूतै उप्तं बीजं च नश्यति ॥ ३३ ॥

एवं कामाशयं चित्तं कामानामतिसेवया ।

विरज्येत यथा राजन्नग्निवत्कामबिन्दुभिः ॥ ३४ ॥

शब्दार्थ

उद्यमानम्—इस प्रकार जोतने से; मुहुः—पुनः-पुनः; क्षेत्रम्—खेत; स्वयम्—अपने आप; निर्वीर्यताम्—बंजर; इयात्—हो जाता है; न कल्पते—उपयुक्त नहीं है; पुनः—फिर; सूतै—अगली फसल उगाने के लिए; उप्तम्—बोया गया; बीजम्—बीज; च—तथा; नश्यति—नष्ट हो जाता है; एवम्—इस प्रकार; काम-आशयम्—कामेच्छाओं से पूर्ण; चित्तम्—अन्तःकरण; कामानाम्—वांछित वस्तुओं के; अति-सेवया—बारम्बार भोग के कारण; विरज्येत—विरक्त हो सकता है; यथा—जिस तरह; राजन्—हे राजा; अग्नि-वत्—अग्नि; काम-बिन्दुभिः—घी की छोटी-छोटी बूँदों से।

हे राजन्, यदि कोई खेत को बारम्बार जोता-बोया जाता है, तो उसकी उत्पादन शक्ति घट जाती है और जो भी बीज बोये जाते हैं वे नष्ट हो जाते हैं। जिस प्रकार घी की एक एक बूँद डालने से अग्नि कभी नहीं बुझती अपितु घी की धारा से वह बुझ जाएगी उसी प्रकार विषयवासना में अत्यधिक लिप्त होने पर ऐसी इच्छाएँ पूरी तरह नष्ट हो जाती हैं।

तात्पर्य : यदि कोई अग्नि में निरन्तर बूँद-बूँद घी छिड़के तो अग्नि नहीं बुझेगी, किन्तु यदि ढेर सारा घी उड़ेल दिया जाये तो अग्नि सम्भवतः पूरी तरह बुझ जाए। इसी प्रकार जो अधिक पापी हैं और

निम्न जाति में उत्पन्न हैं उन्हें जी भर कर पाप करने दिया जाता है, क्योंकि सम्भव है कि वे इन कार्यों से ऊब कर उन्हें शुद्ध बनने का अवसर पा सकें।

यस्य यल्लक्षणं प्रोक्तं पुंसो वर्णाभिव्यञ्जकम् ।
यदन्यत्रापि दृश्येत तत्तेनैव विनिर्दिशेत् ॥ ३५ ॥

शब्दार्थ

यस्य—जिसका; यत्—जो; लक्षणम्—लक्षण; प्रोक्तम्—कहे गये (ऊपर); पुंसः—मनुष्य के; वर्ण-अभिव्यञ्जकम्—विभाजन को सूचित करने वाले (ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य, शूद्र इत्यादि); यत्—यदि; अन्यत्र—कहीं और; अपि—भी; दृश्येत—देखा जाता है; तत्—वह; तेन—उस लक्ष्य से; एव—निश्चय ही; विनिर्दिशेत्—उसका नाम धरना चाहिए।

यदि कोई उपर्युक्त प्रकार से ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य या शूद्र के लक्षण प्रदर्शित करता है, तो भले ही वह भिन्न जाति का क्यों न हो, उसे वर्गीकरण के उन लक्षणों के अनुसार स्वीकार किया जाना चाहिए।

तात्पर्य : यहाँ पर नारद मुनि स्पष्ट रूप से कहते हैं कि किसी को जन्म के अनुसार ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य या शूद्र नहीं मान लेना चाहिए। यद्यपि आजकल ऐसा ही प्रचलन है, किन्तु शास्त्र इसे स्वीकार नहीं करते। जैसाकि *भगवद्गीता* (४.१३) में कहा गया है—*चातुर्वर्ण्यं मया सृष्टं गुणकर्मविभागशः*। इस तरह गुणों तथा कार्यों के अनुसार समाज के चारों विभागों—ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य तथा शूद्र—का निर्णय किया जाना चाहिए। यदि कोई ब्राह्मण परिवार में जन्म ले और ब्राह्मण गुण प्राप्त कर ले तो उसे ब्राह्मण माना जाना चाहिए, अन्यथा उसे ब्रह्मबन्धु मानना चाहिए। इसी प्रकार यदि कोई शूद्र ब्राह्मण के गुण अर्जित कर ले तो भले ही वह शूद्र कुल में जन्मा हो, किन्तु वह शूद्र नहीं है; क्योंकि उसके ब्राह्मण गुण विकसित कर लिए हैं। कृष्णभावनामृत आन्दोलन इन ब्राह्मण गुणों को विकसित करने के लिए है। चाहे कोई जिस जाति या कुल में उत्पन्न क्यों न हो, यदि उसमें ब्राह्मण के गुण विकसित हो गये हों, तो उसे ब्राह्मण मान लेना चाहिए और उसे *संन्यास* आश्रम प्रदान करना चाहिए। जब तक कोई ब्राह्मण गुणों से सम्पन्न नहीं होता, तब तक वह *संन्यास* नहीं ग्रहण कर सकता। अतएव किसी व्यक्ति को ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य या शूद्र की उपाधि प्रदान करने के लिए जन्म अनिवार्य लक्षण नहीं है। यह ज्ञान अत्यावश्यक है। यहाँ पर नारद मुनि स्पष्ट कहते हैं कि यदि किसी मनुष्य में संगत गुण पाये जाँय तो उसके जन्म के अनुसार उसकी जाति मानी जाए, अन्यथा नहीं। जिसने ब्राह्मण के गुण प्राप्त कर लिए हैं, चाहे वह कहीं भी जन्म ले, उसे ब्राह्मण मान लेना चाहिए। इसी प्रकार यदि

किसी ने शूद्र या चण्डाल के गुण विकसित कर लिए हैं, तो वह चाहे कहीं भी जन्मा हो, उसे लक्षणों के अनुसार स्वीकार किया जाना चाहिए।

इस प्रकार श्रीमद्भागवत के सप्तम स्कंध के अन्तर्गत “पूर्ण समाज: चातुर्वर्ण” नामक ग्यारहवें अध्याय के भक्तिवेदान्त तात्पर्य पूर्ण हुए।